शोध मंथन, Impact Factor 5.463 (SJIF), UGC No. 40908 ISSN: (P): 0976-5255, (e) : 2454-339X,
Vol. X, No. 1, pp (49-57), Jan-March 2019

बौद्धकालीन कृषि व्यवस्था का अवलोकन

प्रो० राकेश कुमार शर्मा
निर्देशक, प्रा०भा०इ०स० एवम् पुरातत्त्व विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रशान्त कुमार
शोध छात्र, प्रा०भा०इ०स० एवम् पुरातत्त्व विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
Email: prashantmba2007@rediffmail.com

सारांश

प्राचीन काल से ही कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग रही है। नवपाषाण काल में जब मानव यायावर जीवन त्यागकर स्थायी निवास बनाकर रहने लगा, तो इसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण कृषि ही था क्योंकि कृषि के लिए स्थाई जीवन आवश्यक था। घुमक्कड़ जीवन से सभ्यता की ओर अग्रसर होने पर मानव ने सर्वप्रथम जो व्यवसायिक रूप ग्रहण किया वह एक कृषक ही था। वैदिक काल में ही कृषि ने भारत में एक विशेष उद्योग का स्थान प्राप्त कर लिया था और इसी समय से ही कृषि की उन्नति के लिये अनेक देवी–देवताओं की उपासना भी प्रारम्भ हो चुकी थी।

प्रस्तावना

बौद्धकाल में तो कृषि का स्थान और अधिक महत्वपूर्ण हो गया था। विनयपिटक में तीन उच्च व्यवसायों में कृषि को प्रथम स्थान दिया गया है। व्यापार एवं पशुपालन को कृषि के बाद स्थान दिया गया है।[1]

बौद्ध काल जहाँ एक ओर धार्मिक क्रान्ति का काल था, वही दूसरी ओर सामाजिक व आर्थिक परिवर्तनों के लिए भी महत्वपूर्ण काल था। साहित्यिक साक्ष्यों[2] के अनुसार वैदिक काल में ही भारतीय कृषकों को लोहे का ज्ञान प्राप्त हो गया था और इसका प्रयोग वे हल के फाल के रूप में करने लगे थे, छठी शताब्दी ई०पू० अर्थात् बौद्ध काल में तो लोहा सामान्य उपयोग की वस्तु बन गया था।[3] कृषि कार्यो में लोहे के उपकरणों के उपयोग एवं तकनीकी विकास के द्वारा कृषि क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन एवं अन्नोत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि प्राप्त कर ली थी। इसके अतिरिक्त पशुधन भी कृषि के विकास के लिए आवश्यक था। सर्वविदित है कि पशुधन कृषि–कर्म का एक महत्वपूर्ण अंग है। बौद्ध काल में पशुपालन और कृषि कार्य एक दूसरे पर आश्रित थे। दीघनिकाय के कुटदन्त सुत्त और मज्झिमनिकाय के एसुकारी सुत्त में उल्लेख मिलता है कि एक राजा द्वारा ग्रामवासियों को पशुधन के कृषि–कर्म में उपयोग करने हेतु प्रेरित किया गया।[4] धार्मिक क्रान्ति की जीवों के प्रति अहिंसा की अवधारणा ने भी पशुधन की रक्षा में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। बौद्ध चिन्तन के अनुसार पशुधन कृषि के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण था। एक बौद्ध ग्रंथ में कहा गया है कि पशु, अन्न, बल, सुख तथा सम्पत्ति के साधन हैं, इसलिए अवध्य हैं।[5]

बौद्धकालीन साहित्य में वर्णित कृषि क्रियाओं का जब हम अवलोकन करते हैं तो तत्कालीन समाज की कृषि व्यवस्था की प्रगति का समुचित ज्ञान हमें प्राप्त होता है। बौद्ध साहित्य में मिलने वाले कुछ उद्धरणों से संकेत मिलता है कि सामाजिक परम्पराओं में भी कृषि को ऊँचा स्थान प्राप्त था। सामान्यतः सम्पूर्ण कृषि भूमि छोटे–छोटे खेतों में विभक्त थी। विनयपिटक से ज्ञात होता है कि भूमि को 'जातापथवी' और 'अजातापथवी' में वर्गीकृत किया गया था। जिसका तात्पर्य उपजाऊ और अनुपजाऊ भूमि से है।[6] प्रायः खेत को उसमें बोई जाने वाली उपज के आधार पर जाना जाता था। खेतों के चारों ओर मेड़ लगाई जाती थी और कृषि कार्य की आवश्यकता के अनुसार खेत को नियोजित किया जाता था। संयुक्तनिकाय[7] में खेतों की तीन श्रेणी उत्तम, मध्यम और निम्न का वर्णन है। इसमें भिक्षुओं की तुलना उत्तम खेत से, उपासकों की मध्यम प्रकार के खेत से और अन्य धार्मिक सम्प्रदायों के श्रमणों, ब्राह्मणों और संन्यासियों की तुलना निम्न प्रकार के खेत से की गई है। खेत का सामान्य आकार क्या होता था, इस विषय पर 'चुल्लवग्ग' में महामोग्गलान के एक शिष्य ककुध कोलियपुत्त के एक स्वर्गीय लोक में उत्पन्न होने का उल्लेख मिलता है[8], जिसको एक मागध ग्राम के दो–तीन खेतों के समान कहा गया था। सुवन्नाकक्टा जातक एवं सालिकेदार जातक में एक खेत का आकार एक हजार करीश बताया गया है जो राजगीर के पूर्व में ब्राह्मण ग्राम सालिनदिया में स्थित था।[9] मलालासेकरा के अनुसार एक हजार करीश भूमि आठ हजार एकड़ क्षेत्र के बराबर थी[10], किन्तु इससे खेत के आकार के विषय में कोई निश्चित संकेत प्राप्त नहीं होता है परन्तु इन सभी उद्धरणों से इस बात का संकेत मिलता है कि कृषि कार्य के लिए भूमि के एक बड़े भाग का उपयोग हो रहा था।

तकनीकी के उत्तरोत्तर विकास, व्यावहारिक अनुभव तथा आवश्यकता ने वैदिक कालीन कृषि उपकरणों को जनपद युग तक एक निश्चित रूप दे दिया था। महाकाव्यों में भी कृषि की जानकारी के स्रोत उपलब्ध हैं। रामायण में बालकाण्ड व अयोध्याकाण्ड में अनेक कृषि उपकरण उल्लिखित हैं। महाभारत के सभा, वन एवं शांति पर्व में भी कृषि उपकरणों का उल्लेख मिलता है। कृषि का सबसे महत्त्वपूर्ण उपकरण 'हल' का उल्लेख महाभारत में सम्मान सूचक वस्तु के रूप में मिलता है।[11] हल को कृषि का अभिन्न अंग मानते हुए बलराम को हलधर के रूप में दर्शाया गया है। सम्भवतः हल को अपने आयुध के रूप में प्रयोग करने के कारण ही बलराम को 'हलायुध' कहा गया है।[12] महाभारत में वैष्णव यज्ञ में सोने के हल से यज्ञ भूमि जोतने का वर्णन है। इससे स्पष्ट है कि उस काल में धातु के हल से कृषि भूमि को जोता जाता था।[13] रामायण में भी त्रिजट को वृत्ति के अभाव में फाल–कुदाल–लांगल लेकर अरण्य में परिभ्रमण करने का उल्लेख मिलता है[14] और कंद, मूल आदि वन्य उत्पाद को खोद कर वह अपनी आजीविका चलाता है। लांगल वैदिक काल का हल है। लांगल में धातु का फाल लगा होता था। रामायण की यह लांगल परम्परा पुनः अपनी प्राचीनता का संकेत देती है।[15] सगर के पुत्रो को भी रामायण में 'खंती' और 'लांगल' के आयुध के साथ दिखाया गया है।[16] सगर–पुत्रों ने खनित्र–लांगल के साथ पाषाण खण्ड और वृक्ष–दण्ड की सहायता से धरती खोदने का कार्य भी किया था।[17] यहाँ यह संकेत प्राप्त होता है कि फाल, कुदाल, लांगल ये तीनों कृषि उपकरण हैं। रामायण में भी सोने के हल

का उल्लेख है, जिसका प्रयोग राजा जनक ने भीषण अकाल की स्थिति में किया था।[18] अष्टाध्यायी में भी हल का उल्लेख मिलता है।[19] अष्टाध्यायी में बड़े हल को 'हलि' कहा गया है, जिसका दूसरा नाम जित्य भी था।[20] इसी जित्य से ग्रामीण शब्द जीता बना है, जिसका अर्थ दूसरे का एक बैल माँगकर जोतना है। अवधी भाषा में अभी तक 'हरी तथा जीत' शब्द प्रचलित है, जिन्हें 'हल' और 'हली' भी कहा जाता है। सम्भवतः कठोर और नई कृषि भूमि जोतने के लिए बड़े हल का उपयोग किया जाता होगा। आजकल भी कृषक ईख बोने के लिए खेत में चौड़ी कूँड बनाने के लिए बड़ा हल उपयोग करते हैं। वासुदेव शरण अग्रवाल ने इसे ही पाणिनी का हलि माना है।[21] अष्टाध्यायी में हल के ऊपरी भाग को 'हलस' कहा गया है।[22] हलस प्रायः बांस की हुआ करती थी।[23] आज भी हलस के रूप में अधिकतर लकड़ी का प्रयोग होता है।

हल के अतिरिक्त कृषि के अन्य उपकरणों का उल्लेख भी इस काल के साहित्य में यत्र–तत्र मिलता है। इन उपकरणों में विशेष रूप से 'फावड़ा' या 'कुदाल' एवं 'हँसिया' का उल्लेख है। खेत के कोने हल से नहीं अपितु 'कुदाल' या 'फावड़े' से खोदे जाते थे। महासुपिना जातक में वर्णन मिलता है कि वर्षागमन का आभास होते ही कृषक बांध के पास हाथों में फावडा एवं टोकरी लेकर निकल पड़ते थे।[24] जैन साहित्य में भी कुदाल का उल्लेख मिलता है सम्भवतः इसका उपयोग भूमि खोदने के लिए होता था।[25] खेतो को निराने के लिए भी 'कुदाली' का प्रयोग किया जाता था, जिसके लिए अश्टाध्यायी में 'स्तम्बघ्न' शब्द का प्रयोग हुआ है।[26]

बौद्ध साहित्य में कृषि की विभिन्न प्रक्रियाओं का विस्तृत विवरण मिलता हैं। 'चुल्लवग्ग' एवं 'अंगुत्तरनिकाय' में कृषि क्रियाओं की विभिन्न अवस्थाओं का क्रमबद्ध उल्लेख मिलता है। कृषि–कर्म जैसे– भू–कर्षण, खेत रचना, बीज चयन, कृषि सिंचन, कृषि सुरक्षा, कृषि संस्करण, घास–फूस तथा मोथा आदि को निराना, पक जाने पर फसलों को काटकर तथा गठ्ठरों में बांध कर बैलगाडियों द्वारा खल्य भूमि, जिसे खल मण्डल कहते थे, तक ले जाने तथा वहाँ पर भूसी और अन्न को अलग कर लेने के पश्चात् अनाज को अन्नागारों में भेज देने आदि के सम्बन्ध में विस्तृत उल्लेख मिलता है।[27] खेती का कार्य भी एक धार्मिक कृत्य समझा जाता था। खेत की तैयारी के लिए खेत की जुताई हल–बैल द्वारा अच्छी तरह से की जाती थी। 'सुत्तनिपात' में कसि भारद्वाज ब्राह्मण का वर्णन आया है, जो 500 हलों को लेकर जुताई का कार्य कर रहे थे और भगवान बुद्ध से उन्होंने स्वयं को कृषक बताया था। कृषि कार्य को कार्यान्वित करने से सम्बन्धित ब्राह्मण के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए बुद्ध कहते हैं–

"बार–बार बीज बोते हैं, बार–बार मेघराज बरसते हैं,
बार–बार किसान खेत जोतते हैं।"[28]

उपर्युक्त विवरण से संकेत मिलता है कि बीज बोने के लिए विधिवत खेत को तैयार किया जाता था। विनयपिटक में खेत जोतते समय हराई के लिए 'सीता' शब्द मिलता है।[29] 'अष्टाध्यायी' से संकेत मिलता है कि खेत की जुताई करने और भूमि तैयार करने में किसान इतना अधिक श्रम करते थे कि खेत की उपजाऊ शक्ति दुगुनी हो जाती थी इसके लिए कृषक बड़े–बड़े हलों का प्रयोग करते थे। एक ही खेत में वे दो, तीन, चार या इससे भी अधिक बार जुताई करते

थे। दो बार जोतने के लिए 'द्वितीया–करोति' और तीन बार जोतने के लिए 'तृतीया–करोति' शब्द प्रचलित थे।[30] वर्तमान में भी इस प्रकार की जुताई के लिए 'दूसरे करना', 'तीसरे करना' शब्द प्रचलित हैं। जातकों में वार्षिक संस्कार के रूप में 'वपनोत्सव' का उल्लेख मिलता है। इस अवसर पर राजा अन्य कृषकों सहित जुताई के प्रारम्भ के लिए हल ग्रहण करता था।[31] निदान कथा में भी 'वप्पामंगलम्' नामक जुताई उत्सव का उल्लेख मिलता है जो जुताई से पूर्व शाक्यों के द्वारा मनाया जाता था जिसमें राजा अपने अन्य अधिकारियों संग सोने के हल से भूमि को जोतता था। राजा इस अवसर में भाग लेने वाले सभी लोगों को नए वस्त्र एवं भोजन देता था इसके पश्चात् कृषक लोग नये वस्त्र धारण करते थे और ग्रामवासी उत्सव का आनन्द लेते थे।[32]

जुताई के बाद खेत बोने लायक हो जाता था। इसे 'वाप्य' कहते थे।[33] किसान पहले खेत को दो–तीन बार जोतकर छोड़ देते थे फिर जब बीज बोने का समय आता तो उसे जोतकर बीज डाल देते थे, ऐसा ही खेत 'वाप्य' कहलाता था।[34] वाल्मीकि ने वर्षा ऋतु को खेत की बुआई के लिए उपयुक्त कहा है[35] क्योंकि वर्षा होने पर हवा और धूप से नष्ट बीज भी पुनः हरे–भरे हो जाते हैं।[36] जैन आगम ग्रन्थों में धान बोने और रोपने की विधि का वर्णन इस प्रकार मिलता है कि वर्षा होने पर छोटी–छोटी क्यारियाँ बनाकर चावलों (शालि–अक्षत) को खेतों में बोया जाता, फिर उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर रोपते तथा खेत के चारों ओर बाड लगाकर उसकी रक्षा करते थे।[37] जैन ग्रन्थ 'स्थानांग' में चार प्रकार की खेती बतायी गयी है[38]– (1) वापिता, (2) परिवापिता, (3) निंदिता, (4) परिनिंदिता। आधुनिक काल में बुआई के विभिन्न प्रकार प्रचलित है जैसे– बेर, पवेड़ या छीट तथा चोवली आदि। जब हल चलाते समय बीज कुंड में गिरता जाये, इसे 'बेर की बुआई' कहते हैं। खेत में पहले बीज छींट कर बाद में हल चलाने को 'पवेड़ की बुआई' कहते है। जुताई करने के बाद कृषि भूमि में बीज को हाथ से गाड़ना 'चोवली' कहलाता है। अष्टाध्यायी के एक सूत्र में 'बीजा–करोति' शब्द का प्रयोग हुआ है, सम्भवतः जिसका तात्पर्य पवेड की बुआई से ही लगता है।[39] तत्पश्चात् उल्लेख मिलता है कि एक पुरुष हल की मूठ पकडे हुए बैलों के पीछे चलता था और दूसरा उसके पीछे–पीछे खेत में बीज छोड़ता था। आधुनिक पश्चिम भारत में बेर तथा पवेड की बुवाई को क्रमशः खुटहर और पैरा कहा जाता है।

बुआई के पश्चात् बीज से अंकुर आने और पौधों के कुछ बड़े हो जाने पर किसान खेतों की निराई तथा सिंचाई करता था। निराई, पौधों के चारों ओर उगे हुए घास–फूस तथा मोथे को कुदाली आदि से साफ करने की क्रिया थी[40] क्योंकि मोथे आदि से फसल तथा खेत नष्ट हो जाने का भय रहता था। सिंचाई के लिए प्राकृतिक तथा कृत्रिम दोनों जल स्त्रोतों जैसे– वर्षा, कूप, सरिता, आसार, और आप्लावन आदि का उपयोग करते थे।[41] जातकों में नदियों के जल से सिंचाई के अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। कुनाल जातक में रोहणी नदी के जल विवाद का प्रसंग मिलता है जो शाक्यों और कोलियों के मध्य अपनी सूखती हुई फसलों को सींचने के लिए नदी के जल की प्राथमिकता के प्रश्न पर उठ खड़ा हुआ था। इस अवसर पर ही महात्मा बुद्ध की मध्यस्थता के कारण भीषण रक्तपात बचाया जा सका था।[42] अतः आभास होता है कि भारतीय कृषक नदियों पर बाँध बनाकर उसकी दिशा परिवर्तित कर उसके एकत्रित जल से सिंचाई करने की तकनीक

से परिचित थे जो कृषि के तकनीकी व्यावहारिक ज्ञान के विकास का परिचायक है। आधुनिक समय में भी बांधों के जल का उपयोग नहरों के माध्यम से बड़े पैमाने पर सिंचाई कार्य के लिए हो रहा है। इसके अतिरिक्त 'रहट' का उल्लेख भी मिलता है। उत्तर भारत के विभिन्न भागों में 'रहट' द्वारा सिंचाई की परम्परा के साक्ष्य आज भी उपलब्ध हैं। बौद्ध ग्रन्थ 'चुल्लवग्ग' में कुएँ से पानी खींचने के लिए तुला, चक्र एवं बैलों की जोडी इन तीनों साधनों के उपयोग का उल्लेख प्राप्त होता है।[43] जो सम्मिलित रूप से 'चरस' अथवा 'मोट' भी हो सकते हैं और रहट भी।[44] अतः इस काल तक रहट तथा मोट अथवा चरस का प्रयोग सिंचाई के लिए होने लगा था। 'मच्छजातक' में शास्ता वर्षा के सम्बन्ध में कहते हैं– "एक समय कोशल देश में वर्षा नहीं हुई तो खेत कुम्हला गये, तालाब, पुष्करणियाँ सूख गये।[45] इससे स्पष्ट होता है कि– कुआँ, तालाब, पुष्करणियाँ, जलाशय, नदी आदि जो भी सिंचाई के साधन मिलते हैं, वे सभी वर्षा के जल पर ही आश्रित थे।

बीज पक जाने के पश्चात जब हरे–हरे धान्य निकल जाते तो उनकी गंध सर्वत्र फैलने लगती उसमें दूध भर आता, फल लग जाते और वे पीले पड़ जाते तो किसान उन्हें दंतियों से काट लेते थे।[46] इस प्रकार फसल पक जाने के पश्चात् उसकी कटनी को लवन, लाव या अभिलाव[47] कहते थे और काटने वाले को लावक[48], जिन्हें आजकल लावा कहा जाता है। फसल की कटाई 'दात्र' या 'लवित्र' से की जाती थी।[49] कटाई शुरु होने को बृद्ध अर्थात् बाड़ लगाना कहा जाता था।[48] 'लवन' या कटाई के पश्चात् फसल को एक स्थान पर एकत्रित किया जाता था। कटी फसल को 'खल' तथा फसल संग्रहित किए जाने वाले स्थल को 'खल्य' कहा जाता था।[51] आज भी कृषकों में खल्य के अपभ्रंश शब्द खलिहान का प्रयोग किया जाता है। खेतों से कटी हुई फसल को 'खलिहान' तक ले जाने के लिए कृषक बैल–गाडियों का प्रयोग करते थे, जैसा कि जैन ग्रंथ 'उपासक दशा' में एक महाश्रावक द्वारा कटी फसल को खल्य भूमि तक ले जाने के निमित्त पाँच सौ बैलगाड़ियों के रखने के उल्लेख से स्पष्ट है।[52] फसलों को 'खल्य भूमि' में संग्रहित करने के बाद कृषक, फसल तथा भूसी को अलग करने के लिए बैलो द्वारा 'धान्य मर्दन' अथवा 'गाहन' करते थे।[53] उत्तर भारत में आज भी धान्य को भूसे से अलग करने की क्रिया को गाहना ही कहा जाता है। गाहने के पश्चात् फसल सैलायी जाती थी। सैलाने की क्रिया 'निष्पाव' कहलाती थी जो वायु अथवा सूपों द्वारा सम्पन्न होती थी।[54] महाभारत तथा जैन साहित्य में धान्य स्वच्छ करने के लिए सूपों का उल्लेख मिलता है।[55] धान्य फटकने का कार्य भी 'शूर्पनिष्पाव' ही कहलाता था। अन्न को भविष्य में उपयोग के लिए धान्यागरों में सुरक्षित रख दिया जाता था।[56] धान्यों के खल्य भूमि से अन्नागार तक ले कर जाने के लिए पाणिनि ने 'संह्रियमाण यव' शब्द का प्रयोग किया है।[57] पालि–ग्रंथों में तीन प्रकार के कोष्ठागारों का वर्णन आया है– धन कोष्ठागार, धान्य कोष्ठागार तथा वस्तु कोष्ठागार।[58] जैन साहित्य में उल्लेख है कि धान्यों को साफ करने के पश्चात् उन्हें कोरे घड़ों में भरकर तथा घड़ों को लीप–पोतकर उन पर मुहर लगाकर कोठार (कोष्ठागार) में रख दिया जाता था।[59]

विनयपिटक में विविध अन्नों एवं फसलों का विवरण प्राप्त होता है। इस विवरण से

बौद्धकालीन कृषि उत्पादों तथा उस समय के लोगों के कृषि सम्बन्धी बृहद् ज्ञानकोष का सहज आभास प्राप्त होता है। बौद्ध साहित्य में मुख्य रूप से धान की फसल का वर्णन अनेक स्थानों पर हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि चावल उनका प्रमुख खाद्यान्न था और उस समय धान की खेती अधिक होती थी। 'ब्रीहि' एवं 'शालि' धान के दो प्रकार थे जो सम्भवतः पूर्वी उत्तर प्रदेश में 'ओसहन' तथा 'जडहन' नाम से जानी जाने वाली धान की दो फसलों से तुलनीय है।[60] इसी प्रकार जातकों में भी धान (शालि) का वर्णन है। 'कपिजातक' में उल्लेख मिलता है कि एक दिन धान कूटने वाली दासी ने धूप में फैलाये हुए अपने धान को खाने वाली बकरी को जलती लकडी से मारा।[61] चावल के बाद दूसरी प्रमुख फलस जौ (यव) था। जैनसूत्रों में 17 प्रकार के धान्यों का उल्लेख है[62]– ब्रीहि (चावल), यव (जौ), मसूर, गोधूम (गेहूँ), मुद्ग (मूंग), माप (उड़द), तिल, चाण्क (चना), अणु (चावल की एक किस्म), प्रियंगु (कंगनी), कोद्रव (कोदों), अकुष्ठक (कुट्ट), शालि (चावल), आठकी, कलाय (मटर), कुलत्थ (कुलथी) एवं सण (सन्)। 'तिल' का प्रयोग खाद्य व्यंजन बनाने एवं तेल दोनों के लिए होता था। तिल के अतिरिक्त लोग 'सासप' (सरसो) एवं 'एरण्ड' वृक्ष के तेलो से भी परिचित थे।[63] ईख की खेती का उल्लेख भी बौद्ध साहित्य में आता है। 'छद्दन्तजातक' में विशालकाय ईख के वनों का वर्णन हुआ है।[64] भगवान बुद्ध 'अंगुत्तरनिकाय' में भिक्षुओं से कहते है, "भिक्षुओं जैसे ईख का बीज हो, वह गीली पृथ्वी में गाडा गया है, वह जितना भी पृथ्वी रस को ग्रहण करता है। वह सब मधुर ही होता है।"[65] इनके अतिरिक्त मसालों में श्रृंगवेर (अदरक), सुंठ (सूंठ), लवंग (लौंग), हरिद्रा (हल्दी), वेसन (टीका–जीरफलवणादि), मरिय (मिर्च), पिटपल (पीपल) और सरिसवत्थग (सरसों) का उल्लेख मिलता है।[66] कपास की कृषि का उल्लेख भी जातक एवं अन्य बौद्ध साहित्य में वर्णित है। सूत की फसलों में 'कपास' सबसे मुख्य थी। 'महाजनक जातक' से ज्ञात होता है कि वाराणसी के चारो ओर कपास की कृषि की जाती थी और स्त्रियों के द्वारा धुनकी से कपास की धुनाई का कार्य किया जाता था।[67]

इस प्रकार बौद्धकालीन साहित्य से आभासित होता है कि इस युग की सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था में कृषि को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। अर्थव्यवस्था तो कृषि पर आश्रित थी और कृषि–कर्म पशुधन पर आश्रित था। व्यापार–वाणिज्य भी कृषि सम्बन्धित विविध अवयवों से जुडा था। वस्तुतः वैदिक काल में ही कृषि ने सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था में अपनी जड़ें जमा ली थीं और बौद्ध काल में हुई तकनीकी प्रगति के द्वारा कृषि ने आर्थिक क्षेत्र में सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया था। छठी शताब्दी ई०पू० में कृषि उपकरणों में लोहे का व्यापक रूप से प्रयोग होने लगा था जिसने कृषि क्षेत्र में क्रान्तिकारी भूमिका का निर्वाह किया। कृषि में होने वाली व्यापक प्रगति के लिए पशुधन की रक्षा परमावश्यक थी। वस्तुतः बुद्ध ने स्वयं पशुबलि का बहिष्कार किया जिसका कारण नव–कृषि तकनीक पर आधारित कृषि आवश्यकताओं के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण था। तत्कालीन साहित्य से कृषि से सम्बन्धित सभी प्रक्रियाओं का उल्लेख प्राप्त होता है जिससे ज्ञात होता है कि कृषि क्षेत्र में बौद्ध काल में विशेष उन्नति हुई तथा जो तकनीकी विधियाँ उस समय प्रयोग की जाती थी वो वर्तमान समय में भी प्रासंगिक बनी हुई है।

सन्दर्भ सूची

1. राव, राजवन्त (सम्पादक), *भारत में कृषि एवं कृषक समुदाय,* प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, 2010, पृष्ठ **165**
2. गोपाल, राम, *इण्डिया ऑफ वैदिक कल्पसूत्राज,* मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1983, पृष्ठ **134**
3. यादव, अच्छेलाल, *प्राचीन भारत में कृषि,* सिद्धार्थ प्रकाशन, वाराणसी, 1980 ई०, पृष्ठ **63**
4. कश्यप, भिक्षु ज० (सम्पादक), दिघनिकाय, भाग 1, नालन्दा, 1958, पृष्ठ **116**; मज्झिमनिकाय, भाग 2, नालन्दा, 1958, पृष्ठ **444**
5. सुत्तनिपात, पालि टेक्स्ट सोसाईटी, लन्दन, 1921, पृष्ठ **296–297**
6. मिश्रा, जी, एस०पी०, *द एज ऑफ विनय,* मुंशीराम मनोहर लाल, दिल्ली – 1972, पृष्ठ **243–244**
7. संयुक्तनिकाय, पालि टेक्ट्स सोसाईटी, लन्दन, 1884–1904 ई०, 4 / **314–317**
8. चुल्लवग्ग, सम्पादक डिब्लु जगदीश कश्यप, नालन्दा, देवनागरी – पालि सीरिज, सैक्रेड बुक्स ऑफ दि बुद्धिस्टस सीरिज में *"बुक ऑफ द डिसिप्लन"* शीर्षक से आई०बी० हार्नर का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ **284**
9. कोविल, ई०बी० (सम्पादक), *द जातक और स्टोरिज ऑफ द बुद्धाज् फॉरमर बर्थ,* मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2008, सूवन्नाकक्टा जातक, नम्बर 389, भाग 3, पृष्ठ 184; सालिकेदार जातक, नम्बर 484, भाग 4, पृष्ठ **175**।
10. मलालासेकरा, जी०पी०, *डीक्शनरी ऑफ पालि प्रोपर नेमस,* भाग 2, 1995, पृष्ठ **404**।
11. महाभारत, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्सटीट्यूट, पूना, 1933, 13 / 186 / 20; 9 / 36 / 36
12. वही, 9 / 36 / 36
13. वही, 3 / 241 / 30
14. *श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण,* गीता प्रेस गोरखपुर, 2008, 2 / 32 / 29, पृष्ठ **271**
15. वही, 2 / 32 / 29, पृष्ठ **271**
16. वही, 1 / 40 / 27, पृष्ठ **111**
17. वही, 1 / 40 / 36, पृष्ठ **110**
18. वही, 1 / 66 / 14–15, पृष्ठ **155**
19. अष्टाध्यायी, रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर 1964–69 ई०, 3 / 2 / 183; 4 / 3 / 124; 4 / 4 / 81; 6 / 3 / 83
20. वही, 3 / 1 / 117

21. अग्रवाल, वासुदेव शरण, *पाणिनि कालीन भारतवर्ष*, 1955, पृष्ठ **200**
22. *अष्टाध्यायी*, 3 / 2 / 183
23. यादव, अच्छेलाल, पूर्वोक्त, पृष्ठ **64**
24. *महासुपिना जातक*, नम्बर 77, भाग 1, पृष्ठ **187–188**
25. *उपासकदशा*, कलकत्ता, 1889–1890 ई०, भाग 2, पृष्ठ **23**
26. *अष्टाध्यायी*, 3 / 3 / 83
27. चुल्लवग्ग 8 / 1 / 2; *अंगुत्तरनिकाय*, पालि टेक्स्ट सोसाईटी, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन – 1885–1910 ई० 4 / **237–38**
28. कश्यप, भिक्षु जगदीश (सम्पादक), खुद्दक निकाय (सूत्तनिपात), भाग 1, नालन्दा, 1959, पृष्ठ 281; संयुक्तनिकाय, भाग 1, नालन्दा, 1959, पृष्ठ **171–172**
29. राव, राजवन्त, पूर्वोक्त, पृष्ठ **163**
30. *अष्टाध्यायी*, 5 / 4 / 58
31. बोस, ए०एन०, *सोशल एण्ड रूरल इकॉनोमी ऑफ नादर्न इंडिया* भाग 1, कलकत्ता 1961, पृष्ठ **83–84**
32. तीवारी, महेश, *निदानकथा*, चौखम्बा, वाराणसी, 1970, पृष्ठ **142–144**
33. *अष्टाध्यायी*, 3 / 1 / 126
34. अग्रवाल, वासुदेव शरण, पूर्वोक्त, पृष्ठ **202**
35. *रामायण*, 4 / 7 / 20, पृष्ठ **660**
36. वही, 5 / 29 / 6, पृष्ठ 92
37. जैन, जगदीश चन्द्र, जैन–*आगम साहित्य में भारतीय समाज*, 1965, पृष्ठ **122**
38. स्थानांग, टीका, अभयदेव, अहमदाबाद, 1930, स्थानांग 4 / 355
39. *अष्टाध्यायी*, 5 / 4 / 58
40. सूत्रकृतांग (अंग्रेजी अनुवाद), जैकोबी, एच०, *सैक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट*, जिल्द 45, वाराणसी, 1964 ई०, 2 / 2 / 11
41. बृहत्कल्पभाष्य, *टीका मलयगिरि और क्षेमकीर्ति*, पुण्यविजय, आत्मानंद जैन, भावनगर, 1933–38, बृहत्कल्पभाष्य 1 / 12 / 39
42. *कुणाल जातक*, नम्बर 536, भाग 5, पृष्ठ **219–223**
43. *चुल्लवग्ग*, 5 / 16 / 2
44. यादव, अच्छेलाल, पूर्वोक्त, पृष्ठ **104**
45. *मच्छजातक*, नम्बर 75, भाग 1, पृष्ठ **183**
46. जैन, जगदीश चन्द्र, पूर्वोक्त, पृष्ठ **122**
47. अष्टाध्यायी, 3 / 3 / 28 *'निरभ्यो–पूल्योः।'*

48. वही, 3 / 1 / 149
49. वही, 3 / 2 / 182–184
50. अग्रवाल, वासुदेव शरण, पूर्वोक्त, पृष्ठ **202–203**
51. महाभाष्य पंतजलि कृत, *हरियाणा साहित्य संस्थान गुरुकुल झज्जर*, रोहतक, 1961–64, 5 / 1 / 17
52. *इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली*, भाग 10, 1934, पृष्ठ **667**
53. *महाभारत*, 6 / 99 / 3
54. *महाभाष्य*, 3 / 3 / 20
55. यादव, अच्छेलाल, पूर्वोक्त, पृष्ठ **79**
56. वही, पृष्ठ 80
57. *अष्टाध्यायी*, 2 / 1 / 17
58. सरकार, डी०सी०, सेलेक्ट इस्क्रिप्शन्स, भाग 1, युनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता, 1942, पृष्ठ **8 3**
59. जैन, जगदीश चन्द्र, पूर्वोक्त, पृष्ठ **122**
60. मिश्रा, जी, एस०पी०, पूर्वोक्त, पृष्ठ **249–253**
61. कपिजातक, नम्बर 404, भाग 3, पृष्ठ **218**
62. जैन, जगदीष चन्द्र, पूर्वोक्त, पष्ठ 123
63. मिश्रा, जी, एस०पी०, पूर्वोक्त, पष्ठ 249–253
64. छद्दन्तजातक, नम्बर 514, भाग 5, पष्ठ 21
65. राव, राजवन्त, पूर्वोक्त, पष्ठ 176
66. जैन, जगदीष चन्द्र, पूर्वोक्त, पष्ठ 123
67. महाजनक जातक, नम्बर 539, भाग 6, पष्ठ 19–37